Chapter-6

षष्ठ अध्याय

राजस्थान के श्रृंगारिक लोकगीतों की कला और शिल्प की दृष्टि से विवेचना

साहित्य के दो पक्ष होते हैं - शास्त्रीय और लौकिक । शास्त्रीय पक्ष मानव को जीवन की अतल गहराई, ``गंभीर मंथन, मानसिक उहापोह, सौन्दर्य चिन्तन एवं शैलीगत नियमोपनियमों के ताने-बाने की ओर ले जाता है, और लौकिक मनुष्य को समतल जीवन के मार्मिक यथार्थ, सामाजिक विश्वास और उनकी कलात्मक अभिव्यंजना की ओर अग्रसर करता है ।''[१] वैसे तो यह विभाजन कृत्रिम प्रतीत होता है परन्तु तत्वत: इनमें भेद नहीं है । क्योंकि जो उद्देश्य शास्त्रीय काव्य का है अथवा जिन उपकरणों एवं अलंकरणों के माध्यम से वह अपने सौन्दर्यमय सत्य की अभिव्यंजना करता है वही उद्देश्य लोककाव्य का है । शास्त्रीय काव्य को भाषा का संबल प्राप्त है, तो लोककाव्य की व्यंजिका भी भाषा ही है । शास्त्रीय काव्य की गूढ़तम अभिव्यक्तियों को समझने के निमित्त शास्त्रज्ञों ने `रसज्ञ-सामाजिक' की आवश्यकता पर आग्रह किया है परन्तु लोककाव्य के लिये शास्त्रज्ञ की आवश्यकता नहीं ।

मानव से बढ़कर कोई सत्य नहीं । इस सत्य तक पंहुचने के कई मार्ग हैं, कोई किसी पथ से पंहुचता है, कोई किसी और पथ से । दोनों काव्यों में एक अन्तरंग, सूक्ष्मतम भेद है जो निश्चय ही शास्त्रीय तथा लोक-काव्य को एक दूसरे से भिन्न कर देता है । अंग्रेजी-गीत काव्यों के अनुसंधानकर्ता प्रो० कीटरीज ने लिखा है -"There is difference between the poetry of the folk and the poetry of the art."[2] संवेदनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में आन्तरिक बाह्य का अन्तर दर्शनीय है - ``शास्त्रीय काव्य का मूल आधार है व्यक्ति की प्रतिभा, संवेदनात्मक अनुभूति एवं कला के विभिन्न उपकरणों के प्रयोग पर अधिकार ।

---

१. श्री कोमल कोठारी, शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत - पृ० १४६

२. Introduction to scotish and English Ballads P.135.

परन्तु लोक (काव्य) का प्रेरणात्मक बीज सामाजिक विश्वासों, रीति-रिवाजों, उत्सवों-त्योहारों के मार्मिक मूल्यों में अंकुरित होता है। एक में व्यक्ति प्रधान है, दूसरे में समाज प्रधान है। ××× शास्त्रीय (काव्य) का सजग व्यक्तित्व निश्चय ही समाज का अंश होता है। उसके विश्वास, उसकी शैली, उसकी कला के स्वरूप समाज की प्रचलित धारणाओं एवं शैलियों से सौन्दर्यानुभूति एवं अभिव्यंजना ग्रहण करते हैं। किन्तु अनुभूति एवं उसकी अभिव्यक्ति के बीच व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन, अपनी साधना एवं वस्तु तथ्य की व्याख्या का रूप प्रमुख रहता है। लोक (काव्य) के सृजन में उसका व्यक्तित्व प्रमुख नहीं रहता। ×× ×× लोक (काव्यकार) सामाजिक जीवन के समुद्र में बूंद की तरह खोया रहता है।''[1]

भाव-सौष्ठव -

स्वभावत: प्रश्न उठता है कि क्या राजस्थानी लोकगीतों की शृंगारिक अनुभूतियों की गहराई और उसकी अभिव्यंजनात्मकता को शास्त्रीयता की शान पर कसा जा सकता है ? शास्त्रों के ग्रन्थ लेकर लोकगीतों के भावों, कला के उपकरणों को उधाड़ा जा सकता है ? और यदि यह सब वांछित न मिले तो उसका कोई मूल्य नहीं ? लोकगीतों के अन्तस्तल में कलकंठ से नि:सृत वह मन्दाकिनी अविरल प्रवाह से इस सहज गीत, निराडम्बर रूप से प्रवाहित रहती हैं कि आभिजात्य कवितायें भी इसे देख स्तब्ध रह जाती है और प्रत्येक लोकगीत कहता दृष्टिगत होता है कि ``आओ हमारे अन्त:स्तल में अवगाहन कर जाओ, फिर हमारी सामूहिक, जीवन महत्ता की मार्मिक चेतना की दुनियां से बाहर निकलना तुम्हारे लिये कठिन हो जायेगा।'' कितनी गहन पुकार है इन लोकगीतों की। यदि कोई उनमें शास्त्रीयता ढूंढना चाहे तो वह भी यत्र-तत्र छिटकी हुई मिल जायेगी, परन्तु वस्तुत: इन लोकगीतों में

---

१. श्री कोमल कोठारी - साहित्य, संगीत और कला, पृ० १४६

सब कुछ स्वत: ढला हुआ होता है, श्रमसिद्ध या आयासजनित नहीं ।

प्रत्येक सृजना का कोई न कोई उद्देश्य होता है, विषय चुनाव का लक्ष्य होता है, किन्तु अनायास ही हृदय से सामूहिक भावों में प्रस्फुटित हो जाने वाले इन लोकगीतों का, संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों के आचार्यों के द्वारा वर्णित उद्देश्यों से सम्बन्ध नहीं । तुलसीदास के 'स्वान्त: सुखाय' के सदृश आत्म-तुष्टि के लिये, श्रम को हल्का करने, व भावनाओं को विरल कर उनका परिष्कार करने के लिये लोकगीतों की सृजन-प्रक्रिया है । श्रृंगार से संबंधित लोकगीतों का अपना विराट जगत हैं । ''लोकजीवन की अनन्तता में भावोर्मियों के मृदु कम्पन का इतिहास भी बड़ा व्यापक है । सृष्टि के विकास से लेकर आज तक मनुष्य ने जो कुछ सोचा, अनुभव किया और जीवन के संघर्ष में सहन कर अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा उसका प्रत्यक्ष रूप''[१] इन लोकगीतों के भाव-सौन्दर्य में झिलमिलाता मिलेगा । काका कालेलकर ने लोकगीतों को ''साहित्याचें मूलधन'' अर्थात् साहित्य का मूलधन कहा है । वस्तुत: इनमें मानव जीवन की अनेकानेक अनचीन्हीं, जिज्ञासापूर्ण भावनाओं का सत्यान्वेषण पा सकते है । आचार्य शुक्ल के शब्दों में - '' जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है, वही काव्य है '', श्रृंगारिक जीवन को उभारकर उजागर करने वाले लोकगीतों की विपुल निधि रागात्मक अंश की ही तो देन है । बुद्धि और मस्तिष्क की उहापोहमयी दौड़ छोड़कर, इन लोकगीतों ने बताया है कि मानव हृदय कितने कोमल एवं जटिल तारों द्वारा गठित हुआ है । मानव हृदय में भावनायें अनजाने ही अपना विकास पा लेती है ।

स्त्री और पुरुष का साहचर्य शाश्वत सत्य है, जहां पति के लिये स्त्री एवं स्त्री के लिये पति अनन्य सहचर, मित्र है । दाम्पत्य जीवन की ऊंची-नीची घाटियों में प्रकाश अन्धकार के विस्तृत लोक में प्रकृत रूप

---

१. डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय - मालवी लोकगीत, पृ० १८

से अनन्त भावों की सृष्टि होती है । स्त्री और पुरुष दोनों के लोकगीतों ने अपनी अपनी भावकलित रागिनियां व्यक्त की है । किन्तु यह देखने में आया है कि शिष्ट साहित्य का (अभिजात्य) सर्जन अधिकतर पुरुषों के द्वारा हुआ है परन्तु राजस्थानी लोकगीतों की धात्री स्त्रियां है । यह भी रोचक तथ्य है कि स्त्रियों के द्वारा रचित लोकगीतों से पुरुषों के प्रति स्त्रियों का दृष्टिकोण समझने का भी अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है ।

स्त्री और पुरुष दोनों की भावाभिव्यक्ति के संचित कोण में पुरुष की भावनायें अधिकतर आनन्द विलास की लौकिकता तक सीमित रह जाती हैं, किन्तु नारी मानस के अनुभूति-क्षेत्र में जीवन की अनेकमुखी भाव धारायें आई है । द्वन्द्व, विग्रह, वेदना की छाया से दूर पीहर के उन्मुक्त प्रांगण से उसे विदा लेनी पड़ती है, घूंघट में भीगी आंखें और कंठ में बिलखती सिसकियां लेकर पति के रूप में पर-पुरुष से उसका समागम होता है और इसी स्थल से उसके जीवन की भाव-धारायें अनेकानेक रूप लिये तरंगित होती हैं । संयोग और वियोग में जीवन गूंथता है और इसी के अन्तर्गत शाश्वत संवेगों राग-द्वेष, ईर्ष्या, गृहकलह, घृणा और क्रोध को स्फुटित करने वाली प्रतिदिन की घटनायें तैरकर आती है । इसी के साथ साथ दाम्पत्य वात्सल्य व अन्य कौटुम्बिक स्नेह की भावनायें उसके जीवन का श्रृंगार करती है ।

प्रणय-सूत्र में आबद्ध होने से कुछ दिन पूर्व ही राजस्थानी समाज में 'बनड़ा - बनड़ी' के विवाह गीतों की गूंज, ढोलक, मंजीरों से आसपास का वातावरण रागमय बन जाता है । विवाह करने की लालसा, जोड़ी का वर प्राप्त करने की अभिलाषा, मोहक कल्पनाओं के ये गीत पूर्वानुराग की रसभूमि प्रस्तुत करते हैं । विवाह की उमंगों और सरस सुगन्धों का सजीव चलचित्र ही खचित हो जाता है । प्रेम संजीवनी की ये स्वर लहरियां सिर झुकाये मौन बनी हुई बैठी कन्या के अन्त:स्तल की

अभिव्यक्ति कुटुम्ब कबीले, आसपड़ोस की स्त्रियों के द्वारा की जाती है। अनुकूल समय पाकर राजस्थानी यौवनारूढ़ा नायिका अपने ' बाभोसा ' (पिता) से कह रही है -

'' छाजै बैठी चिड़कलिया उडावो क्यूंनी ओ बाभोसा
पोलां बैठा पांवणा जिमाओ क्यूंनी ओ बाभोसा ।''

बाबुल का घर छोड़ अपने जीवन की सार्थकता हेतु ससुराल जाने की कामना कितनी सुन्दर है । देखते नहीं यह ' चिड़ियां ' कितनी बड़ी हो गई है, शादी करके इसे अपने घर से उड़ाते क्यों नहीं ? दादाजी की लाड़ली दादाजी के पास चली, सखियों को ससुराल जाते देख ससुराल जाने की इच्छा उमड़ उठी है -

'' वनड़ी ऊभी गोखड़ियां, दादाजी मोय परणाय ।''[१]

यह सब हो जायेगा तब उन्मुक्त और स्वप्निल प्रेम-उमंग का परिपाक दर्शनीय है । स्वर्ण और मोतियों की लड़फड़ पाग से मुक्त होकर उसका प्रिय तम्पाबाग में उतरा है, किन्तु बेचारा धूप से तप्त धरती पर कुम्हलाया जा रहा है । अपने स्नेहीजनों को सुख पहुंचाने की मंगल-कामना इष्टमित्रों और गुरुजनों के द्वारा प्रकट की जाती है किन्तु अपने पथिक 'प्रियतम' को आतप के कष्ट से बचाने के लिये समर्पणमयी नारी के हृदय की विशालता कितनी मार्मिक है कि वह स्वयं मेघमाला (बदली) बनकर गगन पर छा जाना चाहती है जिससे उसके प्रिय को छाया और शीतलता प्राप्त हो । अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भी यही भावना दर्शायी है -

रम्यान्तरः कमलिनी हरितैः सरोभि
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूल पवनश्च शिवश्च पन्था ।[१०]

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या १०२

अर्थात् प्रियजन, आत्मीयजनों की मार्गयात्रा में अमंगल निवारणार्थ के मंगलकामना की जाती है कि उसका मार्ग कल्याणमय हो, निष्कंटक हो, सूर्य के प्रचंड आतप से बचने के लिये शीतल, मंद, अनुकूल पवन भी चलता रहे । राजस्थानी काव्य की नायिका ने भी तो कहा था -

'' सांवलि काय न सिरजिया, अंबर लागि रहंत
वाट चलंतां साल्ह प्रिव, ऊपर छांह करंत ।''

वर घर आ गये हैं और लग्नमण्डप में वेदी पर वर-वधू के मेंहदी रचे हाथों का राग-मय पुनीत कार्य-हस्तमिलाप की वेला में वधू की नारी सुलभ लज्जा देखते ही बनती है -

'' मेंदी निरखो राज बनाजी, नागरवेल रा पातला पान
हर हथलेवो जोड़ सहेलड़ी, हथलेवो कैसे जोड़ा म्हारा बनड़ा
म्हारा वीराजी ऊभा देखे, वीरा तो सालाजी म्हारा ।''

नागरवेल के पतले पान से हथलेवा में ही यह स्थिति तो तब, मिलन घड़ियों में क्या स्थिति होगी । प्यारी सी ननद के पति आये हैं । कहां तो प्रतीक्षा में महल के उच्चतम भाग पर चढ़-चढ़कर वाट जोहती थी -

'' ऊंची चढ़ी ने जोवती म्हेलां चढ़ी ने जोवती ।''

और जब प्राणधार समझा है तब दासी के कहने पर कि - ''बाई म्हारी करो न सिणगार, पोढ़ो म्हेल में'' वह पानी-पानी हुए जा रही है - '' सिणगार करयो न सायजी आवे म्हाने बाबासा री लाज ।''[१] परिवार के इन निकटतम परिजनों के होते हुए वह कैसे प्रिय के साथ महल में रह सकती है, हे दासी । तुम उनसे कहो कि आज की रात अकेले ही 'पौढे' । किन्तु पति में अति अनुरक्ता प्रेम-दीवानी पत्नी के हृदय की उछलती हुई उमंगे कंठ से निःसृत हो जाती है और इस प्रेमाधिक्य में अपने प्रिय की प्रशंसा भी उससे हो जाती है । बादलों के रंगीन दलों में से छन-छन कर तारे चमक रहे है । हे प्रिये सांझ के समय तुम कितने प्रिय लगते हो, क्या कहूं, बस मैं तो अपने

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ९२

प्रिय की सेज में रीझ जाऊंगी । माथे का आनन्द मैंमद ने लिया और मेंमद का रस मेरे प्रिय ने लिया - शेष फिर रहा भी क्या है । इस तरह आभूषणों को लेकर मधुर गीत चलता है जिसमें प्रिय मिलन की बेला में अलंकारों से सज्ज नायिका की शोभा और स्त्री-सहज आभूषण-प्रियता का मंजुल मेल इन गीतों की हृदयग्राहिता है -

`` दल बादल बीच चमकै जी तारा,
सांझ समे, पिव, लागो जी प्यारा ।``[१]

आत्मसमर्पण आदर्श जीवन के उच्च आदर्शों की पृष्ठ-भूमि बनता है । विश्वास सुमनों का सौरभ अवदान रूप समझा रहता है । दाम्पत्य जीवन के संसार की सच्ची व उदार व्याख्यायें इन लोकगीतों में मोतियों की भांति बिखरी पड़ी है -

`` धरती डगै तो भल डगै, पण थे मत डगज्यो ओ ।``

विश्व में सबके प्रति प्रेम-भावना भले ही रखना किन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना -

``ऐडे चेडे मत जावजो जी सायबा, मीठा तो बोलीजो बैण ।
परदेसण सूं नैणां मती लड़ावजो जी सायब,याद करीज्यो म्ने रैंण ।``

` राजस्थान के लोकगीत ` के सम्पादक त्रय के विचार इस संबंध में उल्लेख्य है । ``प्रेम और कर्तव्य में सदा लड़ाई ही बनी रहती है । प्रेम जीते तो बेचारा पुरुष कायर कहलाता है और कर्तव्य जीते तो हृदयहीन ।``[२] पति परदेश को प्रस्थान कर चुका है । पीछे पत्नी कौवे, तोते, कूजां आदि से संदेश भेजती है और इनकी चोंचों को सोने हीरे से जड़ देगी । ``इसे पागल का प्रलाप न कहकर अनन्त आशावादी प्रेमी के आकुल हृदय का स्नेहसिक्त उद्गार ही कहा जा सकता है ।``[३] प्रियतम के

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या १०३

२. राजस्थान के लोकगीत भाग १, पृ० २७६ - संपादक त्रय - ठाकुर, पारीक एवं स्वामी

३. ,, ,, वही ,, ,, ,, ,, ,,

परदेश रहने पर उसकी सारी साज-सज्जा व्यर्थ है । अपने वेश-विन्यास की व्यर्थता घोषित कर (म्हारो बासी रह्यो बणाव) वह इसका मूल कारण पति की मूर्खता ही बताती है ।

दाड़म सूखै डागलै ढोला
गिर सूखै गिरनार
प्यारी धण सूखै बापरै
मूरख पुरख की नार ।

इसी तरह प्रस्तुत गीत में नायिका का बड़ा ही मार्मिक मनोवैज्ञानिक चित्र खींचा है । नायक लड़ाई के लिये जा रहा है नायिका का हृदय उसे रोकना चाहता है, वह उस स्थान पर आई जहां से उसका पति घोड़े पर सवार होकर जाने वाला था । सुन्दरी ने घोड़े की लगाम थाम ली और कातर पक्षी की तरह आंसू ढलकने लगे -

झेली झेली सुंदर गोरी घोड़े री लगाम,
आंसू तो ढलकाया कायर मोर ज्यूं जी म्हारा राज ।

सूर की गोपियों ने "निसदिन बरसत नैन हमारे" कह कर अपने विरह की दशा का वर्णन किया, यहां आंसुओं ने वह बात कह दी । कितना मनोवैज्ञानिक चित्र लोककवियों ने खड़ा किया है जिसका अनुभव भुक्त-भोगी ही कर सकते हैं ।

रुप-सौन्दर्य -

सौन्दर्य प्रेम का मूलाधार है । सौन्दर्य में एक अपूर्व आकर्षण होता है । इसी कारण सौन्दर्य सर्वत्र प्रशंसित होता है । युवती के प्रतिपल परिवर्तित रुप सौन्दर्य को ''चतुर चितेरे'' भी चित्रित नहीं कर सकते । शारीरिक अवयवों को अनेक उपमानों से उपमित किया जाता है । रुप का चित्रण करने वाले एवं रुप की आभा का बिम्ब प्रस्तुत करने वाले अनेक लोकगीत मिलते हैं । प्रस्तुत गीत वय: संधि सौन्दर्य चित्रण का है । बाल्यावस्था एवं तारुण्य के मध्य की किशोरावस्था वय:संधि के अन्तर्गत आती है । इसमें बचपन की निर्भीकता से दुराव तथा लाज संकोच से लगाव बढ़ने लगता है जिसका ज्ञान नायिका को सहज ही नहीं होता । ऐसी नायिकायें अज्ञात यौवना कहलाती है । नित्य प्रति होने वाले अपने शारीरिक परिवर्तनों को देख कर नायिका चकित है वह बहुत ही सहज भाव से अपने प्रियतम को कहती है -

अणी सरवरिया री पाल, आंबा दोई रावळा ।
बणियारा कुंवरजी ओ, काची केरी मत तोड़ो,
पाकण दो दन चार, दूणो रस आवसी ओ राज ।
बणियारा कुंवर जी ओ ।
अणी सरवरिया री पाल, हिन्दा दोई रावळा ओ राज ।
हीन्दे दोई राज री ।
हीन्दोले मुफ सायबा जी राज
बणियारा कुंवर जी ओ ।
अणी सरवरिया री पाल, नीम्बू दोई रावळा ।
बणियारा कुंवरजी ओ, काचा नीम्बू मती तोड़ो,
पाकण दो दन चार, दूणो रस आवसी ओ राज ।

इसमें 'आंबा' और 'नीम्बू' शब्द प्रतीकात्मक है । इसमें ऊहात्मकता नहीं वरन् कल्पना की स्वाभाविकता है जो अधिक अह्लादायिनी है । साधारण शब्दों में बहुत कुछ कह देना लोकगीतों की मौलिक देन है ।

शिखनख सौन्दर्य -

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों में नायिका का वर्णन करते हुये गीतकारों ने शिख-नख वर्णन की प्रणाली अपनाई है। आभिजात्य साहित्य में यह प्रणाली देवी-देवता एवं श्रद्धातुल्य व्यक्तियों के रूप वर्णन में ही अपनाते हैं। लोकगीतकारों को शास्त्र का ज्ञान नहीं था वे तो स्वयं स्फुरित, स्वभाविक उद्रेक के स्त्रष्टा थे अतः उनका सौन्दर्य चित्रण भी जहां स्थूल शारीरिक अवयवों के सौन्दर्य चित्रण की सूक्ष्म अवलोक्य की प्रभावात्मिका शक्ति की अभिव्यंजना की गई है वहां परंपरित साहित्यिक उपमानों एवं लोकप्रदत्त उपमानों का सुन्दर सामंजस्य प्रस्थापित भी किया गया है। इन उपमानों में कल्पना की रुखी ऊहात्मक उड़ान नहीं है, अपितु आत्मा में सौन्दर्य धारित प्रेम में पुनीत रस को घोलने वाली सुरुचि की सुस्पष्ट व्यंजना है।

सौन्दर्य चित्रण में लोककवियों ने स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म पर अधिक बल दिया है और लोक जीवन से संबंधित नये नये उपमानों की सृष्टि की जो उनकी निजी देन है। आभिजात्य साहित्य में सूक्ष्म सौन्दर्य को इतना महत्व नहीं मिला है। इसीलिये पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है "लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धायें, खण्डितायें और धीरायें निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिये किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और आप में परिपूर्ण हैं।"[१]

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों की नायिकायें आभिजात्य साहित्य की नायिकाओं से किसी भी रूप में कम नहीं हैं। लोकगीतकारों ने अंगोल्लेख करते हुये सांगोपांग शिख-नख वर्णन किया है और कहीं कहीं

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १३८।

मिश्रित रूप से वर्णन मिलता है । यहां हम शिख-नख परम्परा का अनुसरण करते हुये प्रत्येक शरीरांग-सौन्दर्य का विवेचन एवं अभिव्यक्त श्रृंगार भावना का उल्लेख कर रहे हैं ।

शीश-केश-सौन्दर्य -

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों में मूमल और मृगानैणी सौन्दर्य की प्रतीक मानी गई हैं । गीतों की अधिकांश नायिकायें मूमल की ही प्रतिरूप में गीतकारों ने चित्रित की है । 'मूमल' गीत की नायिका मूमल और 'ढोला मरवण' गीत की नायिका मारवणी का शीश नारियल की तरह है ओर केश-राशि की चोटी बासुकी नाग की तरह दीर्घ है ।

सीसड़लो मूमल रो सरूप नारेल ज्यूं
हांजी रे केसड़ला माड़ेची रा बासग नाग ज्यूं ।

नेत्र-सौन्दर्य -

नायिका की आंखें जहां प्रेम-पाहुन के लिये उर-मंदिर का द्वार रही है वहां लोककवियों के लिये भी आकर्षण का मधुर केन्द्र । श्रृंगारिक गीतों में आंखों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है लेकिन उपमान जहां परम्परित कमल,मृग आदि रहे हैं वहां श्रृंगारिक गीतों में '' आधे कटे नीम्बू की फाड़ '' की उपमा भी दी गई है जो इनकी मौलिक उद्‌भावना है ।

नैण नींबू री जी फाड़ मिरगानैणी जी राज ।

नासिका सौन्दर्य -

नासिका वर्णन में भी हमें श्रृंगारिक लोकगीतों में परम्परागत उपमान ही दृष्टिगोचर होते हैं ।' नासिका को सुवे की चोंच'' के समान तथा ' खांडे की धार' के समान बताया है ।

नाक सूवेरी जी चूंच मिरगानैणी जी राज ।

अधर सौन्दर्य -

अधरों के वर्णन में मुख्यत: परम्परा का पालन हुआ है । अधरों को बिम्बाफल के समान अरुण बताना एक परम्परागत तरीका है लेकिन लोकगीतकारों ने अपना नवीन तरीका भी अपनाया है, उन्होंने अधरों की रक्तिमता के साथ साथ उसे ``रेशम के तार के समान पतला भी सौन्दर्य की कसौटी माना है ।``

`` होठड़ला मूमल रा रेसम्यि रै तार ज्यूं । ``

दंत सौन्दर्य -

राजस्थान में पूंगल की स्त्रियों के दांतों की शुभ्रता काव्य प्रसिद्ध हैं । दंत सौन्दर्य के उपमानों में दाड़िमफल, मणिश्रेणी आदि परम्परागत रूप को ही ग्रहण किया है ।

(१) हां जी रे, दांतड़ला ऊजलदंती रा दाड़म बीज ज्यूं,
म्हारी हरियाली मूमल हाले नी अे अमराणो रे देस ।
(२) अधर प्रवाली, दंत जिस्या मणि श्रेणी ।

वक्ष-स्थल सौन्दर्य -

आभिजात्य साहित्य में नारी सौन्दर्य का वर्णन करते हुये उनके कुच-प्रदेश का वर्णन किया हैं । लोकगीतकारों ने नायिका के समग्र वक्ष-स्थल का वर्णन किया हैं जो परम्परित उपमानों से भिन्न जाकर किया है ।

हां जी रे हिवड़लो मूमल रो सांचे ढालियो ।
अर्थात् मूमल का वक्ष-स्थल मानो विधाता ने सांचें में ढाल कर तराशा है ।

उदर-नाभि सौन्दर्य -

नायिकाओं की नाभि की गहराई, त्रिवली की तरंगों की बांक तथा उदर का पतलापन भी कवियों तथा गीतकारों को सदा प्रेरणा देता रहा है । नायिका मूमल का पेट पीपल के पत्ते जैसा पतला है और

नाभि रत्नों से भरी हुई प्याली की तरह है ।

पेटड़लो मूमल री पीपलियै रे पान ज्यूं ।
धूंटी तो कहियै रतन कचोलियां जी राज ।

जंघा सौन्दर्य -

जंघाओं पर अन्य मुखादि अंगों के समान कवियों की लेखनी खूब चली है, लेकिन दुःख यही है कि सभी को जंघाऐं केलि स्तम्भ से कुछ अधिक नहीं लगी । परम्परा पालन की धुन में नवीनता की खोज का अभाव प्रकट करती है । तब श्रृंगारिक लोकगीतों में नवीनता, मौलिकता मुखरित हुई हैं जो आभिजात्य साहित्य का भी आकर्षण बन गई है । ये लोकगीतकार जहां नायिका की जांघों की सुडोलता की उपमा देव-मंदिर के स्तम्भ से की है उसमें उनकी सूक्ष्म अभिव्यंजना भी निहित है कि जंघायें काम को प्रेरित करती है वहां काम धर्मप्रधान काम रहता है उच्छृंखल और उद्दाम काम नहीं ।

जांघड़ली मूमल री देवलियै री थांम ज्यूं ।

पिंडली सौन्दर्य -

लोककवियों ने नायिकाओं की पिंडलियों का बड़ा ही सुन्दर एवं भावपूर्ण वर्णन किया है । पिंडलियों को पतली तथा 'रतनालियां' अर्थात् रत्नों की नाली के समान वर्णन किया है ।

हां जी रे, साथलड़ी सपीठी, पींडी पातली
पींडी तो कहीजै रतनालियां जी म्हारा राज ।

पद-तल, एड़ी सौन्दर्य -

नायिकाओं के पैर पीपल के पत्ते की तरह पतले हैं और ऐड़ियां सुंदर रंग वाली सुपारी की तरह है ।

पग पींपलियै रा जी पान मिरगानैणी जी राज
ऐडी तो कहीजैं सुरंग सोपारियां जी म्हारा राज

भुजा एवं अंगुली सौन्दर्य -

भुजाओं, अंगुलियों का सौन्दर्य वर्णन भी आभिजात्य साहित्य से भिन्न हुआ है जो लोकगीतकारों की महती देन है । बेलन के समान नायिका की सुडौल गोल गोल भुजायें हैं और मूंगफली के समान पतली पतली अंगुलियां हैं -

बेलण बेली जी बाहड़ी मिरगानैणी जी राज
मूंगफली सी धण री आंगली जी म्हारा राज ।

वर्ण-देहयष्टि सौन्दर्य -

लोकगीतकारों ने नायिकाओं के स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौन्दर्य की विवेचना बड़ी हृदयग्राही की है और दोनों सौन्दर्य का मंजुल मेल ही सम्पूर्ण नायिका बनाने में सहायक है इस बात को लोककवियों ने बड़ी ही सूक्ष्मता से चित्रित किया है।- इनकी नायिकायें साधारण रंग (दैहिक) रूप की अधिष्ठात्री नहीं हैं वे तो असाधारण रंग-रूप की धनी हैं जो आभिजात्य साहित्य की नायिकाओं को भी प्राप्त नहीं हुआ । ये नायिकायें इस तरह की हैं जो दृष्टव्य है -

सूरज जिसो अे उजास मिरगानैणी जी राज
चांदे जिसी अे वाधण ऊजली जी म्हारा राज
दूधां जिसो अे ऊफांण, धणी अे प्यारी जी राज
दही वे सरीसी वाधण कठकठी जी म्हारा राज
सोना रे जिसी धण पीली जी राज
मोत्यां नै सरीसी धण निरमली म्हारा राज
हीरां नै सरीसी धण चिलकणी जी म्हारा राज ।

इस प्रसिद्ध लोकगीत में ऐसी सौन्दर्यशाली मन-मोहक और आकर्षक युवती-नायिका का चित्र चित्रित है जो सूर्य के समान प्रभा-मंडित है । वह धन्या चांद की चंद्रिका जैसी धवल है, उस यौवनोन्मत्ता के यौवन की तुलना उफनते

दूध से की गई हैं मानो उसका यौवन अंग प्रत्यंग से ऊभर कर (फूटकर) बाहर आ रहा है । कितनी सुरुचिपूर्ण एवं स्वभाविक कल्पना है । इतना ही नहीं उसे दही के समान 'कठकठी' बताया है अर्थात् वह मृदु और कठोर दोनों विरोधी होते हुये भी वह उन्हें धारण किये हुए है । ये उपमान श्रृंगारिक लोकगीतों की निजी धरोहर है । उसे सुवर्ण जैसी कनकवर्णा बताया है तथा उसके शरीर की निर्मलता को मोती की निर्मलता के तुल्य बताया है । उसकी शारीरिक आभा - कांति तो सच्चे हीरों की तरह चिलकती है अर्थात् शरीर इतना मसृण - मंजुल है जो दूर से ही कांति विकीर्ण करता रहता है जैसे कि हीरे की चकमकाट और आभा होती है । इतनी असाधारण ललनाओं का जहां आंगिक लावण्य का चारु चित्रण हुआ है वहां गीतकारों ने उनकी दैहिक कांति और प्रभा का भी विवेचन करने में कोई कौर कसर नहीं रखी - जो लोकगीतों की मौलिक थाती है, जिसका कोई सानी नहीं है ।

गुण-स्वभाव सौन्दर्य -

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों में शिख-नख-सौन्दर्य निरुपण के साथ उनके गुणात्मक सौन्दर्य का वर्णन करने में गीतकार नहीं चूके और बड़ा ही सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी वर्णन किया है,जो देखते ही बनता है -

मिसरी जिसो वे मिठास मिरगानैणी जी राज
लूंग सरीसी प्यारी चरचरीजी म्हांरा राज
पानां जिसी धण रावणी जी राज,मिरगानैणी जी म्हांरा राज

श्रृंगारिक गीतों की नायिकायें जहां दैहिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है साथ ही आन्तरिक सौन्दर्य की भी धनी है । इस मृगनयनी की जिव्हा पर मिसरी का वास है यानि वह इतनी मधुर भाषिणी हैं कि उसकी मीठी आवाज़ से घर में मधुरता का साम्राज्य छाया रहता है जिसकी शीतलता का अनुभव प्रत्येक करता है । नायिका का स्वभाव भी उसके गुणों एवं सौन्दर्य के अनुकूल ही है । वह 'लौंग' कीतरह चरचरी है अर्थात् लौंग का चरचरापन लम्बे समय तक नहीं रहता उसी तरह नायिका का क्रोध भी लम्बे काल तक

रहकर परिजनों के दु:ख का भाजन नहीं अपितु पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने वाला तथा सबको आकृष्ट करके उसे प्रियपात्र बनाने में सहायक है । ऐसी सर्वांगिणि सौन्दर्यशालिनी के संसार की सब चीज सुलभ एवं सरल साध्य है अतः मिसरी से भी मीठी उस नायिका का प्रेम भी कम नहीं है वह तो इतना गाढ़ा और सुरंगे रंग वाला है जितना कि मेंहदी का रंग होता है । अर्थात् उसके प्रेम का रंग इतना रचने वाला होता है जो एक बार लग गया वह सरलता से या शीघ्रता से छूटने वाला नहीं है । उसके प्रेम का रंग इतना पक्का प्रगाढ़ होता है जिस पर भी चढ़ गया उसका जीवन धन्य हो गया और वह `प्रेम` का रंग कामुकता से संबंधित होते हुये भी उससे बहुत कुछ भिन्न है - कामुकता केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है जबकि प्रेम में हृदय और मन का भी मिलन होता है । जिसे ये श्रृंगारिक लोकगीतों की नायिकायें ही एक गुण के रूप में धारण किये हुये हैं । ऐसी प्रेम में पगी हुई नायिका से नायक विलग होना सहन नहीं कर सकते हैं तो प्रियतमा कब चूकने वाली । उसने भी अपने अस्तित्व को मिटा कर प्रेम के अस्तित्व को स्थापित करने की घोषणा निम्न पंक्तियों में कर दी है -

जी घणा फूलां जैड़ी फूठरी
राज रा पेंचा मांय रास ।

प्रेम और सौन्दर्य का कितना मंजुल-मेल उक्त गीत में गीतकारों ने किया हैं, जिसकी सानी आभिजात्य साहित्य में खोजना दुरूह है । संदिप्तता और सरलता से सहज अनुभूतियों का चित्रण लोकगीतों का निजी खज़ाना है जो मुखापेक्षी के आवरण से कोसों दूर करके स्वतन्त्र, निश्छल, निर्मल, पवित्र प्रेम की सृष्टि करता है जिसमें नायक नायिकायें अनावृत्त एवं निरलंकार होती हुई भी उतनी ही सुन्दर एवं स्वभाविक प्रतीत होती हैं जितनी आभिजात्य साहित्य की ।

पुरुष-सौन्दर्य -

आभिजात्य साहित्य में अपेक्षाकृत पुरुष-सौन्दर्य का चित्रण कम ही किया गया है । कामिनी के कमनीय अंगों को विविध उपमानों से उपमित किया गया है, पर श्रृंगारिक लोकगीतों में स्त्री-सौन्दर्य के साथ ही पुरुष - सौन्दर्य का भी सुन्दर चित्रण किया है । सूर ने कहीं कहीं कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य को चित्रित किया हैं, पर उसमें भी कृष्ण के बाल्य-रुप का सौन्दर्य अधिक अभिव्यक्त हुआ है । तुलसी ने भी बालक राम की देहयष्टि का चारु चित्रण किया है । पर पुरुष सौन्दर्य का जितना श्रृंगारिक लोकगीतों में चित्रण हुआ है उतना आभिजात्य साहित्य में नहीं । पुरुष सूक्ष्म और स्थूल दोनों सौन्दर्य का चित्रण गीतों में उपलब्ध है जो दृष्टव्य है -

बना ओ भीम सरीखा मरवींवा थे ।
अरजन रै उणियार मोती मैल में ।
म्हांरी सगी नणद रा वीर ओ मोती मैल में ।
बना ओ सूरज सरीखा सतेज, थांनै राखूलां किरणां मांय
मोती मैल में ।
स्याम सरीखां सांवला थांनै राखूलां गोपियों रे बीच ।
सूरमै सरीखा सांवला थांनै राखूंला नैणा मांय ।
सोने सरीखा सोलमा थांनै राखूंला तिलड़ी मांय ।
मैंदी सरीखा राचणां थांनै राखूंला हथेल्यां मांय ।

नायक भीम के शरीर की भांति बलिष्ठ और पौरुषवान् है तो रुप में अर्जुन की तरह सुन्दर है, अतः सौन्दर्य और शक्ति दोनों का सामन्जस्य बताना श्रृंगारिक गीतों की समीचीन एवं सुष्ठु कल्पना है ऐसा नायक ही

मोतियों के महल को शुशोभित कर सकता है । यहां 'मोती' शब्द श्लेषात्मक है । नायिका की मोती भरी भावनाओं का वही भाजन बन सकता है जो उक्त सौन्दर्य का सहभागी हो । दैहिक सौन्दर्य जितनी ही अभ्यन्तर सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने में ये लोककवियों की कलम चूकी नहीं और सूक्ष्म चित्रण करते हुये नायक को कृष्ण के सलोने सांवले रंग जैसा जो काला होते हुये भी चित्ताकर्षक बताया । प्रेम में इतने संलग्न (चिपके) जैसे सूरमा आंख में अंजन करने के बाद बाहर निकालना कठिन है उतने ही वे भी अपनी प्रिया से एकाकार अथवा एकात्म भाव रूप है । वे गुणों में भी कम नहीं है । सोने की तरह स्वर्णाभा वाले हैं जो सुहाग के चिन्ह रूप नाक की नथ के (तिलड़ी) मोती रूप हैं और साथ में मेंहदी के रंग के समान प्रगाढ़- गहरे रंगवाले प्रेमी तथा आभूषण रूप पति हैं । रूप और गुण दोनों को समानता में रखने वाले नायक श्रृंगारिक लोकगीतकारों की ही देन और सूझ है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

नायक को ऋतु के अनुरूप चित्रित करके इन लोककवियों ने एक नई सुष्ठु-सर्जना की है जिसमें नायक को 'चौमासे का चम्पा' 'उनाले रो आंबो' तथा 'सियाले रो सूरज' आदि 'औपम्य विधान करके उसमें शुष्क कल्पना का परिचय नहीं दिया अपितु भावातिरेकता, मनोवैज्ञानिकता तथा सूक्ष्म अवलोक्य शक्ति की अभिव्यंजना की, सृष्टि की जिसमें पाठक विचरण करके नया बोध और आदर्श ही प्राप्त करते हैं, और साथ ही आभिजात्य साहित्य की वृद्धि में भी सहायक होती है ।

अभिव्यंजना -

जीवन की आन्तरिक-बाह्य, गहन-सतही, स्थूल-सूक्ष्म भावानुभूतियों का जितना महत्व होता है उतना ही अभिव्यंजना कौशल का भी। यह ठीक है कि लोकगीतकारों ने अपने मन की 'मौज' में कलात्मकता को स्वप्न में भी साध्य न माना। परन्तु कंठ की कलकल करती स्वर लहरियों ने अनायास ही कलात्मकता के तत्व बांहें फैलाये खुद आलिंगन-बद्ध हो गये हैं और लोकगीतों के भाव पुलक उठे। यहां कृत्रिमता नहीं, नैसर्गिकता है। बुद्धि का खिलवाड़ नहीं, भावों में डूबती उतराती रसात्मकता भरी उक्तियां हैं। डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल के अनुसार- ''(लोक) कलाकार की अभिव्यक्तियां परिभाषाओं का आश्रय नहीं लेती। अभिव्यक्तियों का कलामय होना किसी जाति जीवन के कलामय होने पर निर्भर करता है। राजस्थानी लोकगीत कलामय हैं। xxx राजस्थान की सुकुमार अभिरुचियों ने लोक काव्य के छंद, अलंकार, रसध्वनि आदि से अलिखित विधान लोकमानस में बिठा दिये गये हैं जिनकी सहायता से गीतकार रस की सृष्टि करता है तथा गायक और श्रोता रस का आस्वादन करते हैं।''[१] टैगोर ने कहा था - तुम लोगों के विषम कोलाहल से यदि यह कली मुंह भी खोल दे तो उसमें रंग नहीं आयेगा तुम उसमें सुगन्ध नहीं निरख सकते। वस्तुत: लोकगीतों के अज्ञात रचयिताओं ने ही इन कलियों का कितनी मनोहारिता से नैसर्गिक विकास किया है, यह पक्ष लोकगीतों में अवगाहन करने पर अछूता नहीं रहेगा। वैसे तो कला पक्ष और भाव पक्ष के सुन्दर समन्वय को एक दूसरे से विच्छिन्न कर देखना संभव नहीं, क्योंकि कला भावों में विभोर है और भाव कला में, तथापि ईषत् विश्लेषणात्मकता से श्रृंगारिक जीवन संबंधित राजस्थानी लोकगीतों की भाषा, अलंकार योजना, छंद विधान, शैली आदि अभिव्यंजनात्मक पक्षों की परख की जा सकती है।

---

१. राजस्थान के लोकगीत - भाग १, पृ० २६

राजस्थानी लोकगीतों की भाषा विभिन्न बोलियों को समाहित किये हुये राजस्थानी नाम से चिरकाल से दीर्घयात्रा करती आ रही है । सामान्यत: भाषा दो रूप व्यक्त करती है - प्रथम जिसके माध्यम से केवल अर्थ ग्रहण किया जाता है और द्वितीय जिसमें चित्र, बिम्ब, कल्पना आदि के द्वारा गहनता, मनोहारिता उजागर होती है । किन्तु इतना अवश्य है कि जहां सहजता को त्याग कर भाषा मिथ्या आडम्बर या चमत्कार के रथ पर आरुढ़ हो जाती है वहां भाव और भाषा दोनों ही बोझिल बन जाते हैं । आचार्य मम्मट ने कविता को ``आह्लादैकमयी`` कहा है, क्योंकि प्रेषणीय शक्ति के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु आह्लादकारिणी होती है । इन गीतों की भाषा सर्वत्र मनोहारिणी, सरस, अकृत्रिम एवं गहन भावों की सत्यता को पकड़नेवाली भावानुवर्तिनी है । प्रसाद, माधुर्य, ओज गुणों से परिपूर्ण और ध्वन्यात्मकता से पूर्ण है । शब्दों की गहराई, रागात्मकता, अर्थवत्ता कहीं भी शून्य में नहीं भटकी है । संयोगी भावनाओं में भाषा मनोज्ञ है, तो विरह की कातरता में भाषा भी विरही के साथ रोयी है, सिसकियों से हिचकियां बन गई हैं । विनोद, उपालम्भ व्यंग्योक्तियों में भाषा चुटीली बन गई है । इन गीतों में सन्देह, क्लेश, गृहकलह, घृणा आदि की ठीक `नब्ज` पर हाथ रखकर ईर्ष्या ~~के~~ के चित्रों को साकार किया गया है ।

मनोहारी भाषा के माधुर्य के साथ लोक मानस की रसानुभूति एवं भावों की व्यंजना का व्यंजनात्मक रूप स्थान स्थान पर प्राप्य है । गार्हस्थ्य जीवन का अति सुन्दर प्रसंग देखिये -

`` मन्दर पे सुन्दर खड़ी, खड़ी सुखावे केस ।
राजन्दा फेरी दे गया, कर जोगी को भेस --- ।``

भाषा की व्यंजना शक्ति दर्शनीय है । नायिका स्नान करके केश सुखाने के लिये ऐसे वैसे स्थान पर नहीं खड़ी है, बल्कि ~~xxxxx~~ राजप्रासाद के छत पर खड़ी हुई है । पत्नी के केश-सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे देखने को उत्सुक, किन्तु मर्यादा के बंधन में जकड़ा पति `जोगी` के वेश में चुपचाप नायिका

की दृष्टि बचाकर द्वार पर फेरी लगा आता है। केश सुखाना श्रृंगारी-भावना में सौभाग्य एवं अनुराग की अनुपम साधना का प्रतिबिम्ब है। गृहस्थ धर्म निष्ठा के साथ प्रेमजन्य सहज चंचल कामना के कारण सौन्दर्य-पिपासा के लिये स्वकीया को भी फेरी लगानी पड़ी। `सुन्दर` और `राजंद` शब्दों का चमत्कार मार्मिक है।`सुन्दर` शब्द नारी और उसकी रुप कांति दोनों का ही व्यंजक है और `राजन` प्रिय एवं पति दोनों का।

ध्वनिवादियों ने वस्तु से वस्तु की ध्वनि का उल्लेख किया है। होली के दो गीत वहां धन्य हो उठे हैं।

(१) दोय दोय कणियां ले भंवर जी गैर नाचवा चाल्या ---[1]

(२) आगे म्हारो परणियोड़ो तरवरिया नाचे रे ------[2]

दोनों ही गीत ध्वन्यात्मकता से पूर्ण हैं। प्रथम गीत में उपालम्भ, संशय, रुपप्रशंसा, उद्वेलित हो उठते हैं। लोकविश्वास के अनुसार पत्नी को भय है कि पति `गैर` में नाचने तो चले गये हैं परन्तु उसे कहीं `डाकडियां` (चुड़ैल) खा नहीं जाये, नजर न लग जाये इसके लिये प्रिय को वह धीरे नाचने के लिये कह रही है। यह सब कहना व्यर्थ न था, उसे अपने प्रिय के नाचने की त्वरितगति की प्रशंसा और रुप पर गर्व प्रकट करना था। सीधे से कहने में चमत्कार के लिये अवसर न था। द्वितीय गीत में नारी सुलभ लज्जा प्रिय के ``तरवरियो` सदृश नाचने पर उसकी प्रेममय ~~ककककके~~ भावनायें और भी उमंगित हो रही हैं। सखियों के विनोद से बचने के लिये बहाना दृष्टव्य है कि कड़ी से चाभी बांधकर `गैर` देखने आई थी पर `एड़ी के ठमोरे` से गिर जाने पर खो गई है उसे `हेरने` दो, मैं वैसे भी - ``म्हांरी सासू नणद के छाने आई हुई हूं इसकी व्यंजना हो जाती है।

शब्दों की अन्तरात्मा के पारखी मात्र `पंत` ही नहीं हैं। अंदातायी, हेतालु, दिलमालक, परणियो, भंवरसा, भंवरजी, हंजामारु, मीठामारु, बादीला, सांइना, राजन्, पिया, पींव, पनजी, हिवड़े रा

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ९९
२. परिशिष्ट गीत संख्या ९२

जीवड़ा, स्यांम, सायब, मदछकियो, मतवालो, कोडीलो, आलीजा, सोढ़ो, साधू री जायो, नणदबाई री बीर, भाभीरा देवरजी, पति के संबोधन व पत्नी के लिये - मारु, मरवण, मारुड़ी, गोरी, गोरड़ी, सुन्दर, प्यारी, धण, सायधण, कांमणी, मानेतण, गुमेजन, मिजाजण, धणियांणी, जोड़ायत, हेतालूगार, परणियोड़ी, ऊजलदंती, चीतालंकी, हंसाहाली, मिरगानैणी, गवरादे, मायां री बैनड़ आदि संबोधन प्रत्येक गीत की पंक्तियों में अपने विशिष्ट प्रयोजन को व्यंजित करते है। एक की पूर्ति अन्य नहीं कर सकता।

विशेषण -

पुरुष और स्त्री (प्रमुख रुप से पति-पत्नि भाव को लेकर) के लिये प्रयुक्त विशेषणों की जानकारी भी जरुरी है। पुरुष (पति) के लिए इन गीतों में ढ़ोला, राजनांमी, सांईना, सैणां रा लोभी, बंकाराणा, जुगवाला, सायबा, भंवर जी, गाभेती पीवर प्यारी रा सिरदार, मदछकियां, बिलालो, लाडेसर, कमधजियो, गढ़पतियो, जनवीराजा, रायबना, नणदल रो बीरो, लाड़लड़ो, पन्ना-मारु, सियाले री सूरज, ऊनाले री आंबो, बरसाले री बादल, चौमासे री चंपो, रेसम रा रैजा, केसरिया सिरदार, रंगभींणा, रायजादो, मरजौड़ी, भरतार, गाढ़ामार, छतरधारी, जला गेंहाणी, पंचहजारी, गैरगुमानी, मीठामारु, रुपारुड़ो, असाढ़ां रो इन्दर, धणारीफालू, लसकरियो, जल्ला-मारु, वादीलो आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। स्त्री (पत्नी) के लिये पीवर प्यारी, सायवणा, मिरगानैणी, प्राणप्यारी, मांनेतण, जुगबाली धुड़लाली, मायांप्यारी, मिजाजण, मारु, गौरी, गवरल, गोरादे, कलैनारी, कंदागारी, धण, गोरड़ी, हंसाहाली, वैरण, बनी, रंगभीणी, धरनार, मायां री बैनड़, लाड़लड़ी, मूमल, सोनासोही, आंगणसोही, मेलांमूंघी, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। विशेषता सूचक उक्त शब्दों में कई शब्द व्यक्ति-वाचक शब्द भी हैं पर उन गीतों में प्रवेश पाते ही उन पर समष्टि की छाप लग गई है। कई शब्द आंगिक सौन्दर्य का बोध कराने वाले हैं। कुछ शब्द राज-शाही (गढ़पतियों,

बंकाराजा, जनवीराजा, कमधजियाो के सूचक है । जो यहां आकर समृति के द्योतक बन गये हैं । इन विशेषणों के निर्माण में भी लोक की कोमल कल्पना का प्रमुख रूप से हाथ रहा है । पारिवारिक संबंधों के आधार पर भी कुछ विशेषण गढ़ लिए गए हैं । इन विशेषणों के अन्वेषण के लिए प्रकृति को एवं उसके उपादानों को भी नहीं छोड़ा गया है ।

मौखिक परम्परा से चले आने पर भाषा में परिवर्तन और गीतों का आवर्तन - प्रत्यावर्तन चलता ही रहता है । ये गीत शब्द के तद्भव रूप को अधिक प्रस्तुत करते है । पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार - `` गांव की फैक्ट्री में नये-नये शब्दों की खिलवाड़ की जाती हैं । इन गीतों में शब्दों के रूप को मनमाने ढंग से तोड़ा मरोड़ा गया है जिससे कि शब्द की सुन्दरता में वृद्धि हो ।''[१] वस्तुत: राजस्थानी भाषा में `ड़ा' `ड़ी' `ला' `ली' `लो' आदि प्रत्ययों से माधुर्य उत्पन्न किया गया है । इसके अतिरिक्त सांखड़ली, हंजड़ली, एकड़ली, ओलूंड़ी, हिवड़ो, सालूड़ो, सांवणिया, दिवलो आदि अनेकानेक भावपूर्ण शब्द निकलते हैं । भाषा की चित्रोपमगत्यात्मकता, भाषा का वेग-आवेग ध्वन्यात्मकता भी इन गीतों की धरोहर है ।[२]

---

१. कविता कौमुदी - भाग ५, पृ० ८० ।

२. परिशिष्ट गीत संख्या ९०

अलंकार -

अलंकरण की प्रवृत्ति मानव में सदा से पलती आ रही है। अनुभूति को शक्तिशाली बनाने के लिये अभिव्यक्ति अलंकारों में भी रमण करने लगती है। शुक्ल जी के अनुसार - भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रुप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति का नाम अलंकार है। ``शास्त्रीय आचार्यों ने अलंकारों की अनेक परिभाषायें दी हैं। किन्तु प्राकृत जन के हृदय से नि:सृत इन लोकगीतों को शिष्ट साहित्य के सदृश सायास अलंकारों के भार से दबाया नहीं गया है। महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के नैसर्गिक सौन्दर्य का सत्य उद्घाटित करते हुये कहा था -``किमिवहि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।`` यही लोकगीतों के नैसर्गिक कला-सौन्दर्य के लिये सत्य है। लोकगीतकारों की वाणी में ये अलंकार स्वत: घुल-मिल गये हैं।

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों में उपमालंकार ताजगी, सादगी, चिर नवीनता का पुट लिये हुए है। श्री कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार - ``काव्य जगत की अधिकांश उपमायें कवि परम्परा युक्त होने के कारण बासी तथा फीकी सी प्रतीत होती है, परन्तु इन गीतों की उपमायें वैसी ही ताजी है जैसे ऊंचे वृक्षों से अठखेलियां करनेवाली वन की वायु।``१ शिख-नख वर्णन के लिये प्रकृति और जीवन के उपकरणों को अपनाया गया है। आंखें ~~आम~~ नीम्बू की फांक है। नाक खांडे की तीक्ष्ण धार एवं तोते की चोंच है। भुजा बेलन या सोने की छड़ी है। पैर ~~केले~~ मंदिर के स्तम्भ से और ऐड़ी सुपारी सी, भौंहे तिरछी कमान सी, होंठ व पेट पतले एवं कोमल। अंगुलियों का तो क्या कहना `मूंगफली` ही है। ये तो स्थूल सौन्दर्य का वर्णन लेकिन सूक्ष्म सौन्दर्य की उपमा भी बड़ी सार्थक दी है - सूरज चांद का उजास, दूध, दही, मिश्री आदि राजस्थानी गीतों की प्रिय - सूक्ष्म उपमायें हैं। प्रियतम गोरी को -`राखूं म्हारी घणा ने जीव की जड़ी,

---

१. भोजपुरी लोकगीत प्रस्तावना - पृ० १०२

गुलाब की छड़ी, मिश्री की डली' की तरह रखता है। इधर पत्नी प्रेम के रंग की गहराई में डूबी 'राजन फूल गुलाब को, बांकी नारी स फुलड़ा सेज' कहकर निज को मां की लाड़ली बताने के लिये 'मोत्यां बिचली लाल' कहती है। विरह में कृशकाया के लिये - "सारण परली ठीकरी घस-घस पतली होय, परदेसी की गोरड़ी फुर-फुर पिंजर होय" प्रयुक्त है। प्रेमादर्श के लिये -" प्रीतड़ तो अस्यी करूंजी, रंग में रंग मल जाव, चूना हल्दी जद मले, लाल रंग हो जाव", प्रीत करो असी करो ढोला, जसी लोटा डोर, गले फंसावे आपणो जी, लावे नीर भकोल,"थांको तो म्हांको जीवड़ो एक छै ढोला, साहबजी ज्यों चकरी में डोर," उपमान अति मार्मिक गहन सार्थक हैं। इनके अतिरिक्त अनेकानेक सार्थक उपमान गीतों में प्राप्त है।

उत्प्रेक्षा की छटा भी दर्शनीय है - केशर और कुंकुम से बने सुख-आनन्द से सने, कांचजड़ित भवन में प्रिय चलते फिरते कैसे लगेंगे - "जांणे कोई आभा में चमके बीजली जी", और उसकी सौत "जांणे कोई डाबा पग की मोचड़ी जी।" रूपक की मधुमयी कल्पनायें कहीं भी जीवन से विलग नहीं हुई है। एक नायिका कहती है सत्य और सुकीर्ति रूपी घड़ा है। इस घड़े में प्रेम रूपी रस्सी के द्वारा मांग में सिंदूर भरकर अच्छी तरह से पानी भर भरकर लाऊंगी, इसीसे तो श्रृंगारिक जीवन मोक्ष प्रदान करेगा।[१] एक विरहिणी नायिका की सुन्दर कल्पना कितनी सटीक है-

"डूंगर ऊपर मारूजी,घर करूंजी, कोई बादल रा करल्यूं किवाड़,
बिजली रे कड़के देखूं, भंवर, थाने आवतां जी।

दिवाली का 'कुणी छी रो दिवलो ----'[२] रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी तरह 'स्वप्न' का संयोग फलीय गीत भी।[३] 'आवण आवण कह गया, कर गया कोल अनेक,गिणतां गिणतां घस गई म्हारी आंगलियां री रेख' में श्लेष, अतिशयोक्ति, अनुप्रास तीनों अलंकारों का मंजुल मेल है। स्वभावोक्ति, अन्योक्ति, अनुप्रास, दृष्टान्त, प्रतीप, विशेषोक्ति, व्याघात, मानवीकरण अलंकार अनायास लोकगीतों में उजागर हो उठे हैं।

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ६५(अ)
२. परिशिष्ट गीत संख्या २८
३. परिशिष्ट गीत संख्या ३२

छन्द -

स्वरों और व्यंजनों के आधार पर साहित्याचार्यों ने छन्दों के मात्रिक और वर्णिक दो भेद किये। साहित्यिक कविता का अंतिमरूप सचनाकाल में ही निश्चित हो जाता है परन्तु लोकगीतों की उत्पत्ति काल की निरन्तरता में होती रहती है। दूसरे, लोकगीतों की सामूहिक, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक यह निधि किसी एक व्यक्ति के अधिकार में तो रहती नहीं, रचनाकार के हाथों से निकलकर करोड़ों गायकों के कंठों में रहती हैं और गायक अपने श्रम, आह्लाद, उत्सवों, मांगलिक कार्यों, वेदना की घड़ियों में मन की मौज में इन्हें गाया करते हैं। इसीलिये उनमें पाठान्तर प्राप्त होते हैं। अत: इस सामूहिक निधि को छंदों के बंध में बांधकर परखना न्यायोचित नहीं होगा, इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में कहा गया है - ``मौखिक परम्परा से परिवर्तन होते रहना लोकगीतों के लिये अनिवार्य है। लोकगीत न तो कभी नया ही होता है और न पुराना; क्योंकि निरन्तर नव-जीवन प्राप्त करता रहता है।``[१] बिना किसी सजावट, कतरब्योंत के नैसर्गिकता से अभिसिंचित गीतों को वस्तुत: वर्णिक या मात्रिक मालियों के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता। वैसे तो इन्हें भी `गीत` के नाम पर लयात्मकता और भावात्मकता से मात्राओं और वर्णों का आश्रय मिला ही हैं किन्तु कहा तो यही जायेगा - `नव गति नव लय, ताल, छंद, नव` से ये आपूरित हैं। राजस्थानी लोकगीतों की छंद-योजना उनमें अन्तर्भुक्त है, जो लोकगीतों को सरस, सप्राण, सार्थक, मधुर, दीर्घजीवी बनाये हुए हैं। शृंगारिक जीवन संबंधी लोकगीतों में राग, मात्रा, लय के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने के लिये निरर्थक शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग है यथा - ए,एजी,

---

१. "Folk-song in neither new nor old, because it is continually takings on new life. It is an individual flowering on a common stem."

- Encyclopaedia Britannica, Vol.9, P. 448.

रामा, वा-वा, हो, होजी, रे आदि । विभिन्न प्रकार के परम्परा से प्राप्त दोहों को जोड़ जोड़ कर गीत तैयार कर लिये जाते हैं ।[१] गीत की आधारभूत पंक्तियों, टेक से अनेक कल्पनाओं को शब्दों में गूंथकर गीत विस्तार, भावाभिव्यंजना, वांछित रस, वांछित लय, विश्राम की व्यवस्था की जाती है । तुकबंदी की छटा भी सहज रूप से लोकगीतों की पूंजी है । वस्तुत: इन लयात्मक गीतियों को नव-छंदों की खोज में ही 'योग्य' (फिट) बैठाया जा सकता है, पर यह भी निश्चित है कि इनकी रचना प्रक्रिया को बदलते भी देर नहीं लगती ।

मनीषी काव्य के सदृश राजस्थानी लोकगीत भी कई शैलियों में गूंजे हैं । कहीं मन की मौज की उमंग में एक दूसरे के हृदय की बातों को दम्पति ने बड़े लाड़-चाव से पूछा है । कहीं हृदय की व्यथा सामने रखी गई है । कहीं पुकार-पुकार कर सृष्टि के प्रति जड़-चेतन उपकरणों से अपने मन की व्यथा कही गई है । कहीं सीधे से ही बात वर्णित कर दी गई है, और कहीं हृदय की निगूढ़ बातों को सांकेतिक, प्रतीकात्मक से कहा गया है ।

रचना विधान -

राजस्थानी श्रृंगारिक लोकगीतों के विवेचन में गीतों के रचनात्मक स्वरूप के बारे में भी कुछ कहना समीचीन है । इन गीतों में (अरे, हां, हा, होजी, हांजी, रे, हाजीरे, ओ, ओजी ओ) आदि उद्गार वाचक स्तोभाक्षरों का प्रयोग हुआ हैं । इसके अतिरिक्त लोकगीतों का सांगीतिक महत्व भी है । इन लोकगीतों का घटनात्मक स्वरूप लय और धुन के आधार पर गठित रहता है । पेशेवर गायकों द्वारा गीतों के साथ बजाये जाने वाले विविध वाद्यों से उत्पन्न विभिन्न लय भी इन गीतों के गठित रूप का नियमन करते हैं । राजस्थानी लोकगीतों में टेर पंक्तियों का आदि, मध्य और अन्त त्रिविध प्रयोग मिलते है । ये टेर पंक्तियां कहीं

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ६७

पद के प्रारंभ में आती है, कहीं मध्य में और कहीं पदांत में । यद्यपि इन सम्बन्धों में निष्कर्षत: एवं निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर इन गीतों के गठन को देखने पर ऐसा लगता है कि इन गीतों में भी छंद विधान की सी व्यवस्था है । इनमें भले ही शास्त्रीय छंदों-व्यवस्था एवं नियमानुकूल छंदों का प्रयोग नहीं हुआ हो पर इनकी व्यवस्था गीत की धुन और लय पर आधारित है । पूरा गीत प्रथम पंक्ति की धुन व लय में ही आगे चलता है, अथवा एक पद की धुन के आधार पर विकसित होता है । इस धुन एवं लय के बंधन के अनुरूप ही अन्य पंक्तियां या पद हुआ करते हैं ।

उदाहरणार्थ -

कांकरिया रा कोटड़ला चुणाय
जी ओ मारु रे
ईंटा रा चुणाय दो मिंदर
माळ्या हो जी ।
आंमा सांमा गोखडला फुकाय
जी ओ मारु रे
चारुं रे कुटां सूं आसी ठंडो
बायरो हो जी ।
खातीड़ै रा बेटा चतुर सुजांण
जी ओ मारु रे
हिंगळू पागां रो घड़ला
ढोल्यो हो जी ।

उक्त गीतांश को देखने पर हमें लयबद्ध छंद रूप का स्पष्टत: आभास हो जाता है । पूरे गीत में `जी ओ मारू रे, के स्थान पर `जी ओ मारू रे` या इसी वाक्यांश की लय में फिट होने वाले (हां जी बालम, जी ओ बालम, जी ओ राईका, जी ओ गोरादै, जी ओ राजन आदि) वाक्यांशों का प्रयोग हुआ है । चतुर्थ पंक्ति में भी स्थान स्थान पर लय-प्रधान वाक्यांशों (मालिया हो जी, बायरो हो जी, ढोलियो हो जी, मोतियो हो जी, मारियो हो जी, बाचलूं हो जी, चाकरी हो जी, गोरड़ी हो जी, सोवणा हो जी, नीपजै हो जी, काढ़सां हो राज, फेलसी ओ राज, मावड़े ओ जी, छोकरा ओ, आगयो ओ राज) का प्रयोग मिलता हैं । फिर भी इस संबंध में अभीशोध की आवश्यकता है । हो सकता है कि लोकगीतों में लय बंधन की ही भांति मात्रिक या वर्णिक बंधन भी मिल जाय । एक लेखक ने तो स्वीकारा है कि राजस्थान लोकगीतों में दोहा छंद प्रमुख रूप से मिलता हैं ।

'The characteristic form of the folksong is the doha or couplet, which may or may not be rhymed. Stress is indicated by long and short vowels, but the matter is simple and often irregular. Sometimes the couplets are grouped together into a sort of stanza.'[1]

इस संबंध में राजस्थानी लोक साहित्य के अमर साधक श्री कोमल कोठारी के विचार भी दृष्टव्य है - `लोकगीतों की संरचना में कुछ `फार्मूले` अथवा कुछ नियम अन्तश्चेतना में चल रहे हैं और उन्हीं के पुनरावर्तन से गीत के अवयव सर्जित हो रहे हैं ।[२]

---

१. Women's folksongs of Rajputana p.18: By-Winifred Bryce.

२. लोक संस्कृति - पृ० २२ (जुलाई ७१)

शैली-विधान -

महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी विधाओं में शैली अत्यंत महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रश्न और उत्तर शैली से भावना की अभिव्यक्ति सरलता से हो जाती है। राजस्थानी लोकगीतों में ऐसी शैली वाले गीतों की विपुल निधि है। इससे पात्रों का चरित्रांकन और घटनाओं का विकास सहज रूप से हुआ है। विनोद व खाली क्षणों में आपसी वार्तालापों का वातावरण जमा है जहां `` ढोलो मारूणी दोनूं बातां लाग्या ``, और `हंस - हंस पूछां बात` कह कहकर सुन्दर गोरी, भंवरजी खूब रमे हैं, कई मांगें रखी व पूरी की गई है, सपनों के मधुमय अर्थ पूछे गये हैं, वाग्विदग्धता से प्यार उढ़ेल पुलकित किया गया है, सफाई दी गई है।गणगौर के गीत में, एक दूसरे को सदा साथ रखने के लिये कहा गया है, रूठना मनाना भी साथ-साथ चलता है, भावी वियोग के पूर्व पत्नी ने प्राणाधार को कितने तरीकों से रोकना चाहा है, वियोग की अवस्था में प्रत्येक उपकरणों से प्रश्नोत्तर हुये हैं, सतीत्व, आदर्श की रक्षा हुई है। एक एक भाव सुन्दरता, मार्मिकता से संवरे हुये हैं। समस्त संवाद श्रृंगारिक जीवन की श्रृंखलाओं को लिये तारतम्यता से रोचकता, संदिप्तता, प्रत्युत्पन्नमति, जिज्ञासा आदि गुण लिये बढ़ते चले जाते हैं।

लोकगीतों की सार्वभौमिक प्रवृत्ति `संबोधन` शैली की रही है। पति-पत्नी परस्पर विभिन्न संबोधनों से संबोधित कर हृदयगत सुखात्मक-दु:खात्मक भावनाओं की सांगोपांग अभिव्यक्ति करते हैं। ` पनजी मुखड़े बोल, बोल बोल हिवड़े रा जिवड़ा` `म्हारा मेवाड़ा जी हो` , `लागे रे भंवरजी ! मेहूड़ा रा छींटा, `अनोखा, कुंवरजी ओ सायबा फालो, देऊं घर आव`, `गोरी म्हाकी ए`, `ओ म्हारी सदा सवागण नार ए` आदि आदि कितने ही प्रकार सम्बोधनों ने आत्मीयता को मूर्त किया है। हिचकी, धूप (तावड़ा) को भी संबोधित किये जाने का

सौभाग्य प्राप्त हुआ है । भाव एवं परिस्थिति के अनुसार प्रयुक्त इस संबोधन शैली ने लोकगीतों को मनोहारी, संगीतमय और जीवन्तमय बनाया है ।

इन दो प्रमुख शैलियों के अतिरिक्त वर्णनात्मक शैली को भी लोकगीतकारों ने अपनाया है । वस्तु-वर्णन, भाव-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, शिखनख वर्णन उक्त शैली के अन्तर्गत हुये हैं । कथात्मक गीतों की शैली में वर्णनात्मकता का पुट है ही और अन्य गीतों में भी यह शैली विद्यमान है । अति प्रसिद्ध गीत 'उमराव' तो समस्त शैलियों का निचोड़ है । 'विश्लेषणात्मक' शैली की भी न्यूनता लोकगीतों में नहीं है - 'निहालदे' गीत का अंतिम भाग इसका सुन्दर उदाहरण है । एक अन्य गीत में ''ओ पिया सांप ने छोड़ी कांचली, नदियां ने छोड़ी रे कगार, बालम ने छोड़ी गोरी नार रे, यो दुखड़ो सह्यो न जाये'', मार्मिकता लिये हुये है । 'सुक्तिशैली' भी यथास्थान प्राप्त हो जाती है - 'जो बन सका न भंवर जी थिर रहे जी, फिरती घिरती छांव,' 'मन रे मते य न चालिये रे, मन चंचल मन चोरे', 'इन दिन (वर्षा) तीनई नीसरई जांचक चाकर चोर ---' आदि आदि भाव-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने में सहायक है । 'सांकेतिक, प्रतीकात्मक' शैली इन लोकगीतों में खूब फली-फूली है । मानव की सभ्यता-संकुलता ज्यों ज्यों विकास पाती है त्यों त्यों उसकी भावना में प्रतीकात्मक प्रवृत्ति स्वत: आ जाती है । लाज की मारी राजस्थानी नारी कभी 'पीपली' बनी है । अपनी व्यथा कहने के लिये कभी बावलिया (बबूल) की आड़ में पति को जाने से रोका है । इसी तरह 'बड़लो' 'नींबूड़ो' 'मरवो' 'नीम्बड़ली' दाम्पत्य जीवन के ऐश्वर्य के प्रतीक है जिन्हें प्रेम-दूध से सींचा जाता है और गुड़, घी से पाल बंधवायी जाती है । एक गीत है 'ढोला-कंवरजी', 'ढोला-मारु-रा-दूहा' लोक-गाथा के सदृश इसकी विरहिणी नायिका अपने यौवन के अधिकारी को सांकेतिकता से प्रतीकों के माध्यम से आने का निमंत्रण दे रही है । वर्षा के उद्दीपनों से विकल 'सोलह बरस की नार' की स्थिति भी दृष्टव्य है ।

कहीं प्रेमी-प्रेमिका के लिये हंस-हंसिनी प्रतीक बने हैं । इस तरह शैलियों की विविधता अनायास ही इन लोकगीतों में पल्लवित होती हुई दिखाई देती है ।

काव्यरुढ़ियाँ -

जीवन में नवीनता के साथ-साथ पुरातनता भी किसी न किसी रुप में विद्यमान रहती है । काल की क्रम-बद्धा में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो अपनी यात्रा में रुढ़ हो जाते हैं । इन रुढ़ तत्वों का सामूहिक रुप काव्य-रूढ़ी या मूल अभिप्राय चिर-काल से चला आ रहा है । घटनाओं, क्रियाकलापों, भावों में वैविध्य होता है । लोकगीतों की वैविध्यपूर्ण विराट् भूमि में भी काव्य-रुढ़ियों ने प्रश्रय पाया है । घटना, भाव, मन:स्थिति, प्रतिक्रिया और कल्पना की समता के अनुरुप स्थान स्थान पर एकसा वर्णन, एकसी उपमायें, एकसी शाब्दिक अभिव्यंजनायें लोकगीतों में चली आई हैं । किन्तु इन गीतों की कहावतें, मुहावरे परम्परागत होते हुये भी नित नवीन है । इसी तरह राजस्थानी लोकगीतों की ये काव्यरुढ़ियां भी युगों से उगने डूबने वाले सूर्य-चन्द्र की भांति रोचकता एवं कौतूहल भरने वाली हैं ।

पक्षियों के द्वारा संदेश भेजने की रुढ़ी है किन्तु प्रेमियों का कार्य बन जाने पर उसे सामान्य धान नहीं चुगाया जायेगा, सच्चे (खरे) हीरे मोती दिये जायेंगे, चोंच सोने से मंडायी जायेगी । महल बनेंगे तो चांदी सोने की ईंटों से तो चौक लीपे जायेंगे हिंगलू-केसर से । इस स्वर्णिम दृष्टि के पीछे यह तथ्य है कि प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, त्याग आदि मानवीय भावनाओं की दुनियां में इन भौतिक मूल्यवान वस्तुओं का प्रेमियों के लिये कोई मूल्य नहीं हैं । भौतिक सत्य से दूर यहां भावनाओं और कल्पनाओं का यथार्थ सत्य है । सामूहिक भावनाओं की दुनियां में पनघट पर नायक-नायिका का अनजाने मिलन, चम्पाबाग में डेरा लगाना, ननद-भावज या सात सहेलियों के झुलरे, चंपे की डाली

पर ईंढाणी टांकना, गगरी भरना, कच्ची केल से दातुन करना, हाथ पांव धोकर बत्तीसी चमकाना, चूड़ा साफ़ करना, गगरी का डूबना, ईंढाणी का तिर-तिर जाना सभी कुछ कमीवेशी से गीतों में वर्णित है, पर हर बार नया लगता है। मेंहमान (पति) के लिये पंचरंगी जाजम, बत्तीस व्यंजन और फिर गोरी का बिजन ढुलाना, तभी चाकरी का सदेश आना, पत्नी का कई तरह से रोकना, पर पति का न रुकना और आखिर चले जाना, ऊंचे चढ़कर देखना, प्रतीक्षा में काग उड़ाना, उलाहने भेजना, सौत का भय, सूआ, कुर्जा या कबूतरी का आधीरात 'सातसलाम एवं ओलभे' (उपालम्भ) लेकर पति के पास उड़ना, प्रिया की याद आने पर काले ऊंट की सज्जा कर आधी रात को प्रियतमा के महल में पंहुचना सभी कुछ परम्परागत चला आ रहा है।

पांच, दस, बीस परिगणन की आदिम शैली रही है। लोकगीतों में सात-रानियां, सात-सहेलियां, हारनवसर, नवलख,बाग में डेरे डालना, यहां तक रोना भी नवसार (नै तू रोवै नवसरधार), दस मन, पांचकरण की बावड़ी, पांच रुपया का पतासा, 'पांचमोहर को कसूमल' 'पंचरंगी पाग, सवामन, सवालाख आदि सांख्यिक रुढ़ियां हैं। इन भावात्मक रुढ़ियों के अतिरिक्त रचना-प्रक्रियागत एवं सांगीतिक रुढ़ियां भी मिलती हैं। वस्तुत: सामूहिक सृजन की मौलिक उद्भावनाओं के द्रुम पर ये जीवन्त पुष्प सी राजस्थानी लोकगीतों में खिली रहेंगी, इनकी सुरभी में कभी प्रभावहीनता नहीं आयेगी।

भाव और कला का सम्पूर्ण नैसर्गिक सौन्दर्य अपनी महिमा में गौरवान्वित है। आत्मा को उल्लसित करने वाले ये लोकगीत ढोलक, मृदंग, ढफ, मंजीरों, नगाड़ों, सारंगी पर स्त्री-पुरुषों या पेशेवर गायकों के कंठों में गूंजते हैं। संगीत भावों की प्रकृत भाषा का आदर्श है, राजस्थानी लोग तोड़-मरोड़ कर जिस तन्मयता से इन्हें गाते हैं उसी तरह प्रफुल्लता से ये नर्तक-नर्तकियों के पद चांचल्य, गति-गरिमा, भाव-भंगिमा, मुद्राओं, चेष्टाओं और घुंघरुओं की छूमछनन में साकार हो उठते हैं। ~~त्यौहारों, उत्सवों के~~

रस -

जीवन की गहनतम अनुभूतियों के अगाध सागर से निकले राजस्थान के श्रृंगारिक लोकगीत अपना रूप स्पष्ट कर देते है । ये गीत सामूहिक प्रेम-भावना के औसत उद्वेगों की स्वभाविक व्यंजना के ऐसे दर्पण है कि इनमें प्रत्येक को अपने हृदय की भावनायें मिल जाती हैं । ये सबके लिये 'उनके अपने' बन जाते हैं । प्रत्येक लोकगीत जीवन के रसों का उत्स बन जाता है। ''भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने मानव जीवन की विभिन्न अनुभूतियों की अनन्त भावोर्मियों का मंथन कर सार रूप में स्थायी-भावों की व्यापक एवं चिरन्तन सत्ता को स्वीकार किया है । इन स्थायी भावों से ही विभिन्न रसों की भाव-लहरियों में तरंगित होकर मानव-हृदय उद्वेलित होता रहता है । ××× ममता या अभिमान से रति अथवा प्रेम प्रकट होता है । ×××रति भाव सत्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में परिणत होता है । राग से श्रृंगार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर एवं संकोच से विभत्स रस की उत्पत्ति होती है ।''१ मनुष्य के सामाजिक जीवन में आबद्ध होने पर श्रृंगारिक जीवन के रूप में 'रति' भाव के विकसित एवं अभिव्यक्त होने में अनेक मनोदशाओं का स्फुरण लहरों के समान होता है । संचारियों से 'रसोवैसः' का आलाप उपनिषदकार ने किया है । जब संसार का सृष्टा रस रूप है तब जन मानस की सर्वाधिक आत्माभिव्यक्ति ये लोकगीत भी तो इसी के प्रतिरूप हैं । रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में - ''इन ग्रामगीतों में रस है, अलंकार नहीं । वासुदेवशरण अग्रवाल लोकगीतों के रसोद्रेक की चर्चा करते हुए कहते हैं - ''लोक के साथ सम्पर्क में रहकर हमारे जीवन में रूके हुए स्त्रोत फूटकर बहने लगेंगे और रस ग्रहण करके टूटे हुए तन्तु फिर अपने तार से जुड़ सकेंगे ।'' किन्तु नवरस के विभिन्न अंगोपांगों के विस्तृत और सूक्ष्म विविध भेदों के आधार पर लोक-मानस के भाव-सौन्दर्य को परखने का

---

१. मालवी लोकगीत - डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय पृष्ठ ३६४ के आधार पर

प्रयास नहीं किया जा सकता । रूढ़ सीमारेखाओं में भावनाओं से गढ़ा हुआ कोई 'माइल-स्टोन' नहीं होता है, फिर ''लोक-साहित्य में 'रस-प्रतिष्ठा' की स्थिति 'मनीषी-साहित्य' से भिन्न प्रकार की होती है । यहां पर 'रस' उतना वस्तु-सामग्री में शास्त्रीय उपादानों से परिपक्व नहीं होता, जितना 'अभिप्रेत' रहता है , और गीत की लहरियों की उद्दाम गति से परिपुष्ट होती है । रस की स्थिति मूर्त-वर्णन में गर्भित संकेतों से होती है ।''[१] श्रृंगारिक गीतों में मनोवैज्ञानिक साहचर्य स्वतः ही रस की गंगा प्रवाहित करता जाता है, गायक, श्रोता रस का अनुभव-कर्ता स्वयं होता है । आलम्बन, उद्दीपन और आश्रय तो स्वयं उपस्थित रहते हैं जहां निर्माणकर्ता और उपभोक्ता में भी अन्तर नहीं । विविध रसों का चित्रण तथा भावों का उन्मेष तीन स्थितियों में होता है -

१- ''उल्लासावस्था- जिसमें प्रेम, रति, वैभव तथा वात्सल्य होता है ।

२- ओजावस्था - जिसके अन्तर्गत वीरता, उत्साह, रौद्र तथा अद्भुत आते हैं ।

३- दाीभावस्था - भय, लज्जा, करुणा, निराशा आदि समाहित हैं ।''[२]

श्रृंगारिक लोकगीतों में श्रृंगार के अतिरिक्त करुण, हास्य, वीर, शांत और वात्सल्य रस का परिपाक भी मार्मिक रूप से हुआ है । रौद्र, वीभत्स, भयानक रसों का अन्तर्भाव इनकी भाव-भूमि में पल्लवित नहीं हो सका, अंकुर भले ही लुकता छिपता दिख जायें । वैसे लोकगीतों में मानसिक द्वन्द्व का चित्रण भले ही मिले पर उस द्वन्द्व का परिणाम कभी भी क्लेश नहीं होता, परिणाम यदि कोई है तो केवल मन की स्निग्ध शीतलता और स्वच्छ भावनाओं का पुण्यतम वातावरण ही है जहां मनके अनुपम सौन्दर्य को कान्ता-सम्मत कला का संबल मिल जाता है ।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र - ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ५२७

२. डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय - मालवी लोकगीत, पृ० ३७७ के आधार पर

संयोगी जीवन को अपने में समेटे हुये इन श्रृंगारिक लोकगीतों में करुण रस भी व्यापक रूप में विद्यमान है । प्रेम और सुख की अपेक्षा करुणा मानव को अधिक प्रभावित करती है । ``जीवन की आर्द्रता एवं विशिष्ट रस को लेकर प्रभावित होने वाली इस भाव धारा में निमग्न मानव हृदय बुद्धि की उस भावना हीन अवस्था को छोड़ देता है जहां अनात्मभाव के कारण क्रूर-कठोर पाषाण की चिन्गारियां चटकती रहती है ।[१] राजस्थानी लोकगीतों में अनेक मार्मिक प्रसंग, भावोद्वेलित घटनाओं और अनुभूतियों में डूब कर भावों को उभारा है । यह करुणा आलोच्य विषय के आधार पर दो स्थितियों में व्यक्त हुई है -

१- पति का अभाव, मरण के पश्चात् चिरवियोगजन्य दशा ।

२- पारिवारिक जीवन में सुख के अभाव की स्थिति ।

विवेच्य विप्रलम्भ श्रृंगार में बिछोह और चिर बिछोह की वेदना भी स्थान पा चुकी है । प्रियतम प्रवास में है और प्रिया उनकी प्रतीक्षा में सारा जीवन व्यतीत कर देती हैं कितने ही काग, तोता, पिक सदेश भेजे फिर भी नहीं आये, और तिस पर यह जानना मिला की प्रियतम अन्य स्त्रियों के प्रेम में लीन हैं तब उस विरह विदग्धा नायिका की स्थिति कितनी करुण एवं हृदयविदारक होगी जिसका वर्णन इन गीतों में बड़ी मार्मिकता से हुआ है । जीवन को मधुरता से भरने वाले जीवन संग्राम में संग-संग रहने वाले प्रियजन की मृत्यु सदा के लिये कसकती वेदना सौंप जाती है । संसार की असारता को हृदयंगम करके भी अपनों को क्या भुलाया जा सकता है ? स्मृति की अमरता आज भी ताज के संगमरमर के सौन्दर्य में गूंजती है । यह स्मृति किसी वर्ग को ही नहीं रुलाती वरन् सम्पूर्ण समाज व्यथा में कलपता है । स्मृति में गाये इन गीतों में चिरन्तन नैतिक आकर्षण की दिव्यता रहती हैं । भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में ऐसे ही थे अमरकोट के राणा रतन । यवन शत्रु को मार कर स्वयं भी दिवंगत हो गये, किन्तु आह ! उनकी

---

१. डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय - मालवी लोकगीत, पृ० ३७८

प्रिया भटियाणी रानी को इसका ज्ञान नहीं था । उन्हें आशा की कि 'राणा' आयेंगे । आज भी जिह्वा-जिव्हा पर वह गूंज भटियाणी बन उन्हें पुकारती है -

" म्हारा रतन राणा, एकर तो अमराणे घोड़ी फेर ।

अमराणे में बोले सूवा-मोर होजीहो, म्हारा रतन राणा।"[1]

'पपइयो' गीत की करुणा भरी स्वर लहरी से कौन परिचित नहीं है । नववधू को घर पर छोड़कर पति आजीविकोपार्जन परदेश गया । गृह-कलह की चरमसीमा में सास ने बहू के प्राण लेकर ही छोड़े । बारह वर्ष बाद प्रवासी प्रियतम अपनी बिछुड़ी प्रियतमा से मिलने हृदय में कितनी उमंगों, अभिलाषाओं, मधुर कल्पनाओं में लिपटा हुआ आया । परन्तु उसे प्रिया नहीं मिली -

" माय काळी रे कळायण ऊमटी ।"[2]

संदिग्ध परिणाम की स्थिति में यहाँ 'भाव का बादल उमड़ कर फुका रहता है, बरसता नहीं ।

हास्यरस श्रृंगार रस का पोषक एवं सहयोगी बनकर प्रकट होता हैं । इन लोकगीतों में इनके प्रसंग यथास्थान प्राप्त हैं । असंगति विषमता तथा अनमेल विवाह में हास्य की परिस्थितियां बताई गई है । अनमेल जोड़ी का चित्रण देखिये - पत्नी पानी लेने जाती है तो छोटासा पति मचल मचल कर गोदी में आने के लिये रोता है । बेचारी शर्म से गड़ जाती है -

" बालम छोटा सा
पाणीड़े न जावे को डणक डणक रोवे,
मन्ने गोदियां ले लो, म्हारी नार बालम छोटा सा ।

वीरता के सौन्दर्यपूर्ण रंगों में रंग राजस्थानी जीवन के रक्तिम इतिहास को युग-युग के अन्तराल कभी विस्मृत नहीं कर सकेंगे ।

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ९८
२. परिशिष्ट गीत संख्या १०, ८८

संयोग की मधुरतम घड़ियों में, पराक्रम पौरुष का प्रतीक, राजस्थानी वीर, अपने कर्तव्य से कभी विचलित नहीं हुआ है । 'माता भूमि: पुत्रोऽहम्' भावना से ओत-प्रोत वीर सैनिक घोड़ों पर सवार होते हैं । यदि मां की छाती दूध की धार से झर जाती है तो हर्षातिरेक में पति की विदावेला में पत्नी के कंचुकी के बंध खुल जाते हैं । सोरठड़ी तलवार, गेंडे की ढाल और बांकी कटार के गीत राजस्थान में गूंज उठते हैं - "थारी कमर कटारी,ढोला यो तो कामण गारो रे ।" आंखों में बसी शौर्य की अप्रतिम मूर्ति स्वप्न में भी वीरतापूर्ण किलोलें कर जाती है । 'सपना' गीत में विरहिणी वीर-वेशधारी पति के स्वरूप और वीरता प्रदर्शन के ओजपूर्ण चित्र को अपने हृदय की भावनाओं में अभिव्यक्त कर रही है -

" मै बलिहारी मेरा सायबजी - सूपना में, सायब नै देख्या ।
चोफेरे रण में फिरतो, वैर्‍यां का सिर कटता देख्या ।
तो सायब नै देख्या लड़तो ।"[१]

वात्सल्य भाव का अविरल प्रवाह दाम्पत्य जीवन की सार्थकता को महिमामय बनाता है । सन्तान के बिना परिवार सूना है -

" लिप्यो चुप्यो म्हारा आंगणों, दूधारो भरियो वाटको ।
दूधारा पीवा वाला दो जी ।"[२]

अब यहां प्रश्न उठता है कि लोकगीतों में 'रस' के शास्त्रीय तत्वों का समावेश पाया जाता है, अथवा लोकगीतों को मात्र 'भाव' मानकर उनकी तीव्रता से ही रसनिष्पत्ति मान लें ? वस्तुत: समस्त लोकगीतों में शास्त्रीय तत्व सांगोपांग रूप में न होने पर भी ये लोकगीत शिष्ट साहित्य से भी ऊंचे पंहुच जाते है । हमें सहज ही रस-निष्पत्ति के समस्त उपकरण, परिस्थितियां मिल जाती हैं ।

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ८४
२. परिशिष्ट गीत संख्या ९०

आश्रय आलम्बन क्रमश: पत्नी और उसका भरतार है । अनेकानेक मधुरतम संबोधनों में परिस्थिति के अनुसार हृदय छलछला उठता है । उद्दीपन अपनी सर्वांगिणाता में प्रस्तुत है । साहित्यिक कविता के सदृश सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य भेदों के उदाहरणों की भी न्यूनता नहीं । वियोग की अभिव्यंजना के लिये इससे बड़ी और क्या व्यंजना होगी -

`` फेली फेली सुन्दर घोड़े री लगाम,
आंसू तो ढलकाया कायर मौर ज्यूंजी म्हारा राज ।``

जड़ता के वशीभूत हो समस्त बात अश्रु कह उठे । हर्ष-वेदना के समस्त उपकरण `बड़लो` गीत में प्राप्य है । `कामदशाओं` का चित्रण भी कम नहीं है । नायिका को मृगी का रुप प्रदान करके अन्योक्ति के आधार पर लोकगीतकारों ने मूर्छा का बड़ा ही स्वभाविक वर्णन किया है । अपने मृग को ढूंढते ढूंढते श्रमित अवस्था में अविरल अश्रु धार का छलकना और अन्त में `` खाय तिरवालो मिरगी ढे पड़ी ।``[१] कितनी मर्मस्पर्शी दशा है । लोकगीतों में स्थल स्थल पर अनुभावों के साथ-साथ दु:खात्मक-सुखात्मक संचारी भी प्राप्त है ।

---

१. परिशिष्ट गीत संख्या ८९